



Date: 24-12-18

A Spy State?

Home ministry's blanket surveillance order must be tested against fundamental right to privacy

TOI Editorials



The Union home ministry order last week that authorised ten intelligence, tax and law enforcement agencies to “intercept, monitor and decrypt any information generated, transmitted, received or stored in any computer” has kicked off a political storm. The order, which particularly relates to electronic surveillance, gives sweeping powers to the IB, Narcotics Control Bureau, ED, Central Board of Direct Taxes, Directorate of Revenue Intelligence, CBI, NIA, Cabinet Secretariat (R&AW), Directorate of Signal Intelligence and Commissioner of Police, Delhi. The government has defended its move by saying that the notification

was issued under rules framed by the previous UPA government. There is some justification to this argument, but it is not an entirely convincing explanation.

Government has clarified that existing processes will be followed and every case of interception would continue to require permission from the home secretary and review by a panel headed by the cabinet secretary. However, even these processes do not have adequate safeguards against misuse. For example, in emergent situations a designated agency can approach a service provider and seek immediate access to electronic information. It would only need to notify the home secretary in three days. In case there is no post-facto approval in seven days, the interception will have to stop. In other words, agencies effectively have a blanket licence to snoop for a period of about ten days.

This needs to be tested against the recent nine-judge bench judgment of the Supreme Court, which ruled the right to privacy was integral to the fundamental right to life guaranteed by Article 21 of the Constitution. This judgment marks a big change in the legal framework from even the UPA-era surveillance rules formulated in 2009. Moreover, given today's hyper-politicised atmosphere, if opposition parties fear that they will become the principal targets of surveillance by agencies to garner political intelligence for the government, they have reason to do so.

At the very least, circumstances permitting such surveillance must be very clearly and narrowly defined. Moreover, a measure of judicial oversight can be brought in as well. In the US, security agencies require a court order to read unopened emails. India should consider similar safeguards.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 24-12-18

निगरानी में कमी

संपादकीय

केंद्रीय गृह मंत्रालय ने रक्षा और खुफिया क्षेत्र की 10 केंद्रीय एजेंसियों को इस बात के लिए अधिकृत किया है कि वे 'किसी भी कंप्यूटर में संरक्षित, प्राप्त, प्रेषित या उसके जरिये जारी किसी भी सूचना की निगरानी कर सकें, उसे पढ़ सकें या उसे अलग कर सकें।' यह मुद्दा केवल मौजूदा सरकार से जुड़ा हुआ नहीं है क्योंकि यह अधिकार विवादास्पद सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2009 की धारा 69 के अधीन किया गया है। इसके कई अन्य भागों का पाठ अदालतों ने किया है। गृह मंत्रालय का दावा है कि 'किसी सुरक्षा या कानून प्रवर्तन एजेंसी को कोई नया अधिकार नहीं सौंपा गया है' और ऐसे हर मामले में केंद्रीय गृह सचिव की मंजूरी आवश्यक होगी। हर मामले में अलग मंजूरी की बात जाहिर तौर पर निरर्थक है क्योंकि रिकॉर्ड बताते हैं कि रोजाना औसतन 100 मंजूरियां होती हैं। जाहिर है जांच परख का काम कागजी भर है और इसके दुरुपयोग से बचाव की कोई व्यवस्था नहीं है। फोन टैपिंग की शुरुआत के लिए गृह सचिव की मंजूरी एक सप्ताह में लेना अनिवार्य है लेकिन अधिकांश लोगों को यह पता नहीं होता कि उनके फोन कब टैप किए जा रहे हैं इसलिए एजेंसी अपनी मर्जी से फोन टैप कर सकती हैं।

आदेश में सबसे आपत्तिजनक बात यह है कि सुरक्षा एजेंसियों को एकतरफा अधिकार दिया गया है। इनमें न केवल घरेलू सुरक्षा के लिए उत्तरदायी खुफिया एजेंसियां बल्कि विदेशों पर केंद्रित ऐसी एजेंसियां भी शामिल हैं जिनका भारतीय नागरिकों पर निगरानी से कोई लेनादेना नहीं है। रिसर्च एंड एनालिसिस विंग (रॉ) ऐसी ही एक संस्था है। दिल्ली पुलिस और विभिन्न कर एजेंसियों को भी निगरानी के भरपूर अधिकार सौंपे गए हैं। यह ठीक नहीं है। जन सुरक्षा और व्यक्तिगत अधिकारों के बीच संतुलन कायम करने वाली किसी भी सुव्यवस्थित निगरानी व्यवस्था में नागरिकों की जासूसी का अधिकार पूरी तरह किसी एजेंसी के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। इसकी एक प्रक्रिया होनी चाहिए जिसमें वजह बताई जानी चाहिए और जवाबदेही तय की जानी चाहिए। निजता के अतिक्रमण के ऐसे मामले में एक मजिस्ट्रेट की अग्रिम मंजूरी आवश्यक होनी चाहिए जो हर मामले की वजह को रिकॉर्ड करे।

संभव है मौजूदा व्यवस्था में सरकार के पास क्षमता का अभाव हो। अदालतों ने केंद्रीय एजेंसियों द्वारा निगरानी के मामलों में गृह सचिव को उत्तरदायी ठहराया है और सन 1996 में एक निगरानी समिति भी गठित की गई थी। तब से अब तक डिजिटल निगरानी के अवसर बहुत बढ़ गए हैं। परंतु क्षमता की कमी से निपटने का एकमात्र तरीका उपलब्ध क्षमता में इजाफा करना ही है न कि तय प्रक्रिया को नुकसान पहुंचाना। यह एकदम उचित अवसर है जब देश के खुफिया तंत्र में सुधार किया जा सकता है और उसे मजबूत वैधानिक और संवैधानिक आधार प्रदान किया जा सकता है। गृह मंत्रालय के आदेश में जिन एजेंसियों का नाम है उनमें से कई का कोई कानूनी आधार तक नहीं है। वे ब्रिटिश राज से विरासत में चली आ रही हैं। तमाम अन्य उदार लोकतांत्रिक देशों की तरह उन पर कोई संसदीय निगरानी भी नहीं है। उनके कदमों पर कोई न्यायिक नियंत्रण नहीं है न ही वे कानूनी मंजूरी लेती हैं। यह मानना असंभव है कि काम के बोझ तले दबे चुनिंदा नौकरशाह निगरानी के लिए आवश्यक जवाबदेही सुनिश्चित कर सकेंगे। कार्यपालिका के ऐसे अधिकारी प्रायः किसी व्यक्ति के निजता के अधिकार की परवाह नहीं करते। इसमें दो राय नहीं कि इस आदेश को अदालतों में

चुनौती दी जाएगी। सरकार के लिए यह बताने का अच्छा अवसर है कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ी निगरानी सुनिश्चित करने के लिए आधुनिक, प्रभावी और जवाबदेह ढांचा कैसे बनाएगी।

नईदुनिया

Date: 24-12-18

वित्त आयोग की सलाह

संपादकीय



मौजूदा राजनीतिक माहौल में इसके आसार कम ही हैं कि राज्य सरकारें वित्त आयोग के प्रमुख की इस सलाह पर गौर करने के लिए राजी होंगी कि उन्हें अर्थव्यवस्था की स्थिरता के लिए वित्तीय अनुशासन का ध्यान रखना चाहिए। इस संभावना का कारण किसानों के हितैषी दिखने की राजनीतिक दलों की होड़ है। यह होड़ पांच राज्यों के हाल के विधानसभा चुनाव के नतीजे आने के बाद कुछ ज्यादा ही तेज हो गई है। चूंकि आम चुनाव भी करीब आ रहे हैं इसलिए इसके हाल-फिलहाल थमने की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। यह एक विरोधाभास ही है कि वित्त आयोग के अध्यक्ष एक ओर राज्यों को वित्तीय अनुशासन की नसीहत दे रहे हैं और दूसरी ओर भाजपा की राज्य सरकारें भी किसानों की कर्ज माफी जैसे उपायों का सहारा लेने में पीछे नहीं हैं।

वित्त आयोग के अध्यक्ष ने जो कुछ कहा वह कोई ऐसी बात नहीं है जो राज्य सरकारों को पता न हो, लेकिन लोक-लुभावन राजनीति के तहत वे ऐसे फैसले ही लेती हैं जो कुल मिलाकर राज्यों की अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुंचाते हैं। यह निराश करने वाला है कि कर्ज माफी का सिलसिला एक ऐसे समय तेज हो रहा है जब ज्यादातर राज्यों की अर्थव्यवस्था घाटे से दो चार हैं और वे जब-तब केंद्र से मदद अथवा विशेष पैकेज की मांग करते रहते हैं। यह सही है कि किसानों की हालत ठीक नहीं है और उन्हें मदद की जरूरत है, लेकिन कर्ज माफी वह उपाय नहीं है जिससे उनकी हालत ठीक की जा सके। मुश्किल यह है कि राजनीतिक दलों के बीच लोक-लुभावन उपाय चुनावी लाभ हासिल करने का जरिया बन गए हैं।

बेहतर हो कि राज्य सरकारें कर्ज माफी से इतर किसानों को वास्तव में मदद देने के उपाय खोजें, क्योंकि जब वे कर्ज माफी के रूप में अच्छी-खासी धनराशि खर्च कर देती हैं तब फिर उनके पास शिक्षा, स्वास्थ्य के साथ-साथ ग्रामीण अर्थव्यवस्था के ढांचे में सुधार के लिए पैसा नहीं बचता। यह बात किसान हितैषी दिखने की होड़ में शामिल नेताओं को भी समझनी चाहिए कि कर्ज माफी घूम-फिरकर किसानों को ही नुकसान पहुंचाती है। किसानों की असली समस्या यह है कि उन्हें उनकी उपज का मुनाफे वाला मूल्य नहीं मिल पाता। विडंबना यह है कि एमएसपी के आकर्षक मूल्य तो घोषित कर दिए जाते हैं, लेकिन यह नहीं देखा जाता कि कृषि उपज की खरीद निर्धारित दामों में हो रही है या नहीं? कभी प्याज के दाम कौड़ियों के भाव हो जाते हैं तो कभी आलू या अन्य फसलों के। न्यूनतम समर्थन मूल्य जैसे कदम इसलिए बेअसर ही साबित हुए हैं, क्योंकि एक तो किसान इसके प्रति सुनिश्चित नहीं हो सकते कि उनकी सारी उपज सरकारी

एजेंसियां खरीद लेंगी और दूसरे यदि ऐसा हो भी जाए तो सरकार को जो अतिरिक्त राशि खर्च करनी पड़ेगी उसका भार भी किसी न किसी रूप में आम जनता पर ही पड़ेगा, जिसमें किसान भी शामिल हैं। अक्सर ऐसे उपाय मुद्रास्फीति में वृद्धि का कारण भी बनते हैं। बेहतर हो कि राज्य यह समझें कि चुनावी लाभ पर आधारित लोक-लुभावन कदमों से न केवल उनकी आर्थिक स्थिति खराब होती है, बल्कि बैंकों की भी समस्याएं बढ़ जाती हैं।



दैनिक जागरण

Date: 23-12-18

देश में बदलने लगा कामकाजी माहौल

बिंदु डालमिया, (लेखिका नीति आयोग में वित्तीय समावेश और वित्तीय साक्षरता कमेटी की चेयरपर्सन हैं)

कारोबार सुगमता के मोर्चे पर भारत के बड़ी छलांग लगाने का सकारात्मक असर अब कामकाजी माहौल में दिखाई देने लगा है। वर्ष 2014 में कारोबार सुगमता के मोर्चे पर भारत 142वें स्थान पर था, जबकि अब हम 77वें स्थान पर हैं। विश्व बैंक कारोबार सुगमता के मामले में सालाना 190 देशों की रैंकिंग करता है, ताकि दुनिया भर के निवेशकों को सही स्थिति का पता चल सके। हमारी यह ताजा उपलब्धि इस दिशा में नरेंद्र मोदी सरकार की कोशिशों का नतीजा है। यह रैंकिंग बताती है कि भारत निवेश के लिए उपयुक्त जगह है। अब सरकार चाहती है कि देश की अर्थव्यवस्था 50 खरब डॉलर तक पहुंच सके। कारोबार सुगमता की नई रैंकिंग आने के तुरंत बाद प्रधानमंत्री ने देश को शीर्ष 50 देशों में शामिल करने की प्रतिबद्धता जताई है, जो बहुत मुश्किल भी नहीं है।

कारोबार सुगमता के मोर्चे पर बेहतर हुई यह रैंकिंग भारत में बदलते कामकाजी माहौल और संस्कृति को भी प्रतिबिंबित करती है। हमारे कॉर्पोरेट गवर्नेंस और व्यापार के तौर-तरीकों में बेहतरी हुई है। नोटबंदी ने देश की अर्थव्यवस्था को काफी हद तक नियमित किया है, वह रास्ता तैयार किया है कि वह पुता तरीके से पटरी पर आकर गति पकड़ सके, करों के दायरे में 80.53 फीसदी लोगों को लाया जा सके और जीडीपी में सुधार किया जा सके। वर्ष 2014 में करदाताओं की संख्या 3.8 करोड़ थी, जो अब बढ़कर 6.86 करोड़ हो चुकी है। जीएसटी संग्रह इस साल अप्रैल से अक्टूबर के बीच 6.8 लाख करोड़ रुपये हो चुका है। हालांकि इसके क्रियान्वयन में अभी खामियां हैं। बैंकों को मजबूत करने और भ्रष्टाचार को पूरी तरह खत्म करने का काम करने की तैयारी है, ताकि इतना कर आ सके, जो हमारी जीडीपी का 20 फीसदी हो। जब करदाताओं का आधार बढ़कर 14 करोड़ हो जाएगा, तो इससे न केवल राजस्व बढ़ेगा, बल्कि इंफ्रास्ट्रक्चर बेहतर होगा और जनता का निवेश भी बढ़ेगा, जिससे और रोजगार पैदा हो सकेगा। कारोबार सुगमता की रैंकिंग में इस बड़ी उछाल के तीन संकेतक हैं-भारत ऊर्जा पैदा करने वाले शीर्ष 25 देशों में शामिल हो चुका है। सौ फीसदी गांवों का विद्युतीकरण हो चुका है। व्यापार के लिए व्यवसायियों और उद्यमियों को बैंकों से ऋण मिलना आसान हो गया है। कंस्ट्रक्शन परमिट के लिए अब ज्यादा समय नहीं लगता।

अल्पसंख्यक निवेशकों की रक्षा की जा रही है। लालफीताशाही को हालांकि अभी तक खत्म नहीं किया जा सका है, लेकिन नई तकनीक से इसकी बाधाओं को 15 फीसदी तक कम जरूर किया गया है। हालांकि यह तथ्य तो अपनी जगह है ही कि अगर लोकपाल लागू होता, तो देश में निचले स्तर पर नौकरशाही में भ्रष्टाचार को खत्म किया जा सकता था, जो सरकार की तमाम कोशिशों के बावजूद नासूर बना हुआ है। इसके साथ ही भारत अब भी व्यापार शुरू करने, संपत्ति की रजिस्ट्री और भूमि हदबंदी रिकॉर्ड्स, करों के सरलीकरण और कॉन्ट्रैक्ट लागू करने की दिशा में बहुत पीछे है। हालांकि देश में नए बिजनेस को रजिस्टर करने का काम 127 दिनों से घटाकर 30 दिन किया जा चुका है। संपत्ति, स्वामित्व और टाइटल्स में सुधार के लिए इन्हें ऑनलाइन करने की जरूरत है, हालांकि यह एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि भूमि के मामले राज्य सरकारों के दायरे में आते हैं। ईज ऑफ डूइंग बिजनेस के सिलसिले को बरकरार रखते हुए ईज ऑफ लिविंग को बेहतर करना आवश्यक है। जरूरत समेकित वित्तीय संकेतकों को भी ऊपर रखने की है।

वाणिज्य एवं उद्योग के क्षेत्र में विकास को तेज करने के साथ ही प्रति व्यक्ति आय को भी बेहतर करने की आवश्यकता है, ताकि उसका फायदा पिरामिड के निचले स्तर तक हो। ईज ऑफ डूइंग बिजनेस में बड़ी छलांग लगाने के कारण अब असंगठित क्षेत्र के 85 फीसदी लोगों की जिंदगी भी बेहतर होगी, जो हमेशा आर्थिक विकास के लाभ से वंचित रह जाते हैं। ग्लोबल फाइंडेक्स (जीएफएस) के अनुसार, जो वित्तीय समावेशन (एफआई) को मापता है, भारत की स्थिति 2011 में 35 थी, तो 2014 में 53 और 2017 में 80 हो गई। इसका मतलब यह हुआ कि वित्तीय समावेशन में तेजी से सुधार हो रहा है। वित्तीय समावेशन इंडेक्स अब विकास के संकेतकों के समग्र मानकों के तौर पर इस्तेमाल होता है। वित्तीय समावेशन के मोर्चे पर नरेंद्र मोदी सरकार ने पिछले साढ़े चार साल में पिछली सरकार की तुलना में कहीं ज्यादा काम किया है-चाहे बात गांवों के विद्युतीकरण की हो या फिर सस्ते मकानों की, फिर शौचालय निर्माण, मुफ्त एलपीजी योजना, जन-धन योजना और मुद्रा की हो- इन सबसे 40 करोड़ लोगों को फायदा हुआ। नतीजतन गांवों के गरीबों की जिंदगी बेहतर हुई। हालांकि विदेशी निवेशक किसी भी देश में निवेश करने के लिए कारोबार सुगमता की रैंकिंग के अलावा कई और पहलुओं, जैसे-सरकार की कर नीति, पर्यावरण प्रदूषण, स्वास्थ्य और शिक्षा सुविधाएं, भ्रष्टाचार और अभिव्यक्त की स्वतंत्रता जैसे मुद्दों को भी देखते हैं। इन तमाम मामलों में बेहतर स्थिति से ही प्रत्यक्ष विदेशी निवेश बढ़ता है। कारोबार सुगमता के अलावा भी अर्थव्यवस्था के कई मोर्चों पर मोदी सरकार ने बड़ी छलांग लगाई है।

Date: 23-12-18

लैंगिक असंतुलन की सामाजिक चुनौती

संपादकीय

अमेरिकी अखबार 'वाशिंगटन पोस्ट' ने पिछले दिनों आबादी के लैंगिक असंतुलन पर एक लेख प्रकाशित किया है। भारत और चीन की आबादी में महिलाओं के घटते अनुपात पर साइमन डेनयर और एनी गोवेन द्वारा लिखित यह लेख बताता है कि आबादी में लैंगिक असंतुलन से किस तरह अपराध, एकाकीपन और अवसाद बढ़ रहा है। हमारे सामाजिक रिश्तों में बदलाव आ रहे हैं और आर्थिक विकास भी प्रभावित हो रहा है। अद्यतन जनगणनाओं के अनुसार भारत और चीन में पुरुषों की तुलना में महिलाओं की कमी 7 करोड़ से भी ज्यादा हो चुकी है। 2011 के सेंसस के मुताबिक भारत में प्रति

एक हजार पुरुषों पर सिर्फ 943 स्त्रियां हैं। चीन में आज की तारीख में स्त्री-पुरुष की आबादी का अनुपात 48 और 52 प्रतिशत का है। ये आंकड़े हमें तब तक बहुत भयानक नहीं लगते, जब तक उनमें युवाओं और बच्चों के अनुपात हमें अलग से देखने को नहीं मिलते। भारत में 0 से 6 वर्ष की आयु के प्रति एक हजार लड़कों पर सिर्फ 919 लड़कियां जीवित रहती हैं। 2017 में विश्व बैंक द्वारा कराए गए अध्ययन के मुताबिक यहां की युवा आबादी में प्रति हजार वयस्क पुरुष पर वयस्क स्त्रियों की संख्या 939 है और जो ट्रेंड है, उसे देखते हुए लगता है कि यह फासला 2031 तक और बढ़ेगा। चीन की एक अरब 40 करोड़ की जनसंख्या में 3 करोड़ 40 लाख पुरुष बिना जोड़े के रहने को अभिशप्त हैं। यह संख्या कैलिफोर्निया या पोलैंड की आबादी के बराबर है।

लेकिन भारत में तो ऐसे पुरुषों की संख्या और भी ज्यादा, 3 करोड़ 70 लाख है! इन दोनों देशों में 5 करोड़ बिना जोड़े वाले पुरुष 20 साल से कम उम्र के हैं। सबसे ज्यादा गैप 15 से 29 साल के आयु वर्ग में है, जो शादी की उम्र मानी जाती है। इससे समाज में छड़ों की संख्या बढ़ रही है। जनसंख्या अध्ययन के चीनी विशेषज्ञ शी शुजुओ कहते हैं कि 'यह एक जोखिम वाली स्थिति है। जब इन कुंवारे युवाओं में स्त्री संसर्ग की इच्छा होगी, तब उन्हें स्त्रियां नहीं मिलेंगी। इससे समाज में महिलाओं को लेकर पूर्वाग्रह और अपराध बढ़ेंगे, जिसकी परिणति मानव तस्करी, वेश्यावृत्ति, यौन शोषण और स्त्री उत्पीड़न के रूप में होगी। करोड़ों लोगों की शादी न हो पाना हमारी सामाजिक संरचना को अव्यवस्थित करेगा। अपने देश के कुछ राज्यों (हरियाणा और पंजाब) में स्त्री-पुरुष अनुपात के असंतुलन का प्रभाव वहां के सामाजिक व्यवहार और यौन अपराधों में स्पष्ट रूप से देखने को मिल रहा है। वाशिंगटन पोस्ट के मुताबिक आबादी का जो फर्क पैदा हो चुका है, उसका असर अगले दो तीन दशकों में अपने चरम पर पहुंचने लगेगा, जब 0 से 06 साल के आयु वर्ग वाली मौजूदा पीढ़ी जवान होगी।

इसकी भरपाई होने में शायद पूरी 21 वीं सदी खत्म हो जाए। चीन में पुरुषों की बहुतायत के परिणाम अब साफ नजर आने लगे हैं। वहां शादी के लिए कई जगहों पर लड़कियों के मां-बाप की मंजूरी पाने के लिए तीस हजार डॉलर तक की रकम देनी पड़ रही है। युवा पुरुष नौकरियों में ज्यादा मेहनत कर रहे हैं। वे पैसे बचाते हैं और घर बनाने की कोशिश करते हैं, ताकि लड़कियां शादी के लिए उनकी ओर आकर्षित हो सकें। बचत की इस इच्छा के कारण वे अपने उपभोग और खर्च में कटौती करते हैं। भारत में अभी वर पक्ष की ओर से वधू पक्ष को दहेज देने की प्रथा नहीं शुरू हुई है, लेकिन शादी के लिए लड़कियों को खरीदने की खबरें जरूर मिलने लगी हैं। लड़कियां हर पुरुष को वर के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हो रही हैं। उनके पैरेंट्स भी अब उन्हें किसी के पल्ले नहीं बांध रहे। वे विकल्प देख रहे हैं कि कौन ज्यादा पढ़ा-लिखा है, कौन बेहतर नौकरी करता है। 1961 का सेंसस बताता है कि तब 15 से 19 साल के बीच 70 प्रतिशत लड़कियों की शादी हो जाती थी। आज इस उम्र तक सिर्फ 19 प्रतिशत लड़कियां ही ब्याही जा रही हैं। लैंगिक असंतुलन यहां के श्रम बाजार को भी प्रभावित कर रहा है। भारत ही नहीं, चीन में भी पुरुषों के गांव छोड़ कर शहरों की तरफ भागने की बड़ी वजह उस बेहतर जीवन को प्राप्त करने की इच्छा है, जो शादी के बाजार में उनकी स्वीकार्यता बढ़ा सके। इस पलायन से गांव खाली हो रहे हैं, जिसका असर खेती पर पड़ रहा है।

शहरों में श्रमिकों की मजदूरी घट रही है, क्योंकि पलायन के कारण वहां बहुतायत में श्रमिक उपलब्ध हैं। पलायन के कारण गांवों में छोटे परिवार अकेले और असुरक्षित हो गए हैं। शहरों में एकल पुरुष रसोई बनाना तथा घरेलू कामकाज निपटाना सीख रहे हैं। जो शादी नहीं कर पाते वे भावनात्मक सहारे के लिए अपनी मां या बहन पर आश्रित रहते हैं, जिससे उनका बोझ बढ़ता है। इस असंतुलन की वजह हमारी वैज्ञानिक प्रगति, संस्कृति और सरकारी नीतियां रही हैं। चीन में 1979 से एक बच्चा नीति थी तो 2015 तक ज्यादातर चीनियों ने बेटे ही पैदा किए। भारतीय समाज को भी पहले

बेटा ही चाहिए। उन्हें वंश को आगे बढ़ाने और मुखाग्नि देने के लिए जरूरी समझा जाता है। हाल में एसोचैम ने देश के दस बड़े शहरों में कामकाजी महिलाओं पर एक सर्वे किया तो पाया कि उनमें से ज्यादातर एक के बाद दूसरा बच्चा नहीं चाहतीं। और बच्चा जब एक ही होगा, तो चॉइस बेटे की ही होगी। और जब चॉइस इतनी स्पष्ट है तो तकनीकी का सहारा भी लिया जाएगा, चाहे जिस तरह से हो। इसीलिए कानून के बावजूद बच्चियों की जन्म दर आज भी यहां कम है। लिंग की पहचान इसका मुख्य कारण है। ध्यान रहे, लैंगिक असंतुलन से पैदा संकट का असर सिर्फ चीन या भारत तक सीमित नहीं रहेगा। धीरे-धीरे पूरे एशिया पर और आखिर में यूरोप की अर्थव्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा।



Date: 23-12-18

ठोस पड़ती नींव

डॉ. दिलीप चौबे

भारत और चीन ने अपने द्विपक्षीय संबंधों को ठोस बुनियाद प्रदान करने के लिए अब सांस्कृतिक संबंधों और दोनों देशों के जनता के बीच संपर्क और समझदारी बढ़ाने के लिए प्रयास करने का फैसला किया है। प्राचीन काल में धर्मगुरुओं और विद्वानों ने भौगोलिक बाधा को पार करते हुए सांस्कृतिक आदान-प्रदान की आधारशिला तैयार की थी, लेकिन कालांतर में इसे जारी नहीं रखा जा सका। विदेशी आक्रमण और उपनिवेशवाद के कारण दोनों देशों को पराधीनता के लंबे कालखंड से गुजरना पड़ा जिसके कारण भी इन पड़ोसी देशों के बीच लंबी दूरी कायम हुई। भारत और चीन, दोनों के आजाद होने के बाद उपनिवेशवाद के कारण उपजे सीमा विवाद ने भी आपसी संपर्क में अड़चने पैदा कीं। लेकिन तेजी से बदल रही विश्व व्यवस्था के बीच प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने बुहान शिखर सम्मेलन के दौरान दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान और जनता से जनता के बीच संपर्क बढ़ाने पर जोर दिया था, जिसे अमल में लाने के लिए दोनों देश जुट गए हैं। द्विपक्षीय संबंधों के तीन आधार होते हैं।

पहला, जी टूजी (गवमेन्ट टू गवमेन्ट) यानी दो सरकारों के बीच दूसरा बीटूबी (बिजनेस टू बिजनेस) यानी व्यापारियों और उद्यमियों के बीच और तीसरा, पीटूपी (पीपुल्स टू पीपुल्स) यानी दो देशों की जनता के बीच संपर्क बढ़ाना। भारत और चीन की सरकारों के बीच अनेक अवसरों पर द्विपक्षीय संबंधों को लेकर चर्चाएं होती रहती हैं। इसी तरह व्यापारियों और उद्यमियों के बीच भी विभिन्न मुद्दों पर आपसी बातचीत होती रहती है, और दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय व्यापार सालाना 28.63 फीसद की दर से बढ़ रहा है, और पिछले साल यह 84.44 अरब डॉलर के ऐतिहासिक उच्च स्तर पर पहुंच गया। लेकिन भारत-चीन के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान और दोनों देशों के नागरिकों के बीच आपसी संबंध बढ़ाने की दिशा में कोई गंभीर पहल नहीं हुई थी। विदेश मंत्री सुषमा स्वराज और भारत आए चीन के विदेश मंत्री वांग यी ने दोनों देशों की जनता के संपर्क विस्तार पर व्यापक विचार-विमर्श किया तथा इसको अमल में लाने के लिए एक रोडमैप भी तैयार किया। यह बैठक इस मायने में अनोखी थी कि यह केवल दो मुद्दों, सांस्कृतिक संबंध और जनता में संपर्क बढ़ाने पर केंद्रित थी। भारत-चीन संबंधों के इतिहास में सांस्कृतिक आदान-प्रदान और जनता के बीच सरोकार बढ़ाने के

लिए दोनों देशों के बीच 10 आधारों पर सहमति हुई। सांस्कृतिक आदान-प्रदान, प्राचीन विरासत के संरक्षण, युवा आदान-प्रदान, शैक्षिक सहयोग, संग्रहालय प्रबंधन, पर्यटन, नगरों के बीच सहयोग, पारंपरिक औषधि, सिनेमा और योग के क्षेत्र सहयोग बढ़ाने का निश्चय किया गया।

दोनों विदेश मंत्रियों ने राजधानी में आयोजित भारत-चीन उच्चस्तरीय मीडिया फोरम का उद्घाटन किया। मीडिया फोरम के विभिन्न सत्रों में दोनों देशों के मुख्यधारा के मीडिया का एक दूसरे की खबरों को ज्यादा से ज्यादा स्थान देने पर जोर दिया गया। इसमें दो राय नहीं कि सांस्कृतिक संबंधों के विस्तार में मीडिया की निर्णायक भूमिका है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए पड़ोसी देशों की खबरों को ज्यादा महत्त्व और स्थान देने पर भी विचार किया गया। यह तथ्य है कि भाषाई कारणों से भारतीय मीडिया का पश्चिमी देशों के साथ ज्यादा जुड़ाव है। यही वजह है कि अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों की तुलना में चीन, जापान, श्रीलंका, नेपाल आदि एशियाई देशों की खबरें कम छपती हैं। अगर पड़ोसी देशों की सूचनाओं का विस्तार होगा तो जाहिर है कि एशिया में एशिया की बातें सुनीं और समझी जाएंगी जिनसे द्विपक्षीय संबंधों की ठोस नींव तैयार होगी। हालांकि इस दिशा में भी बहुत कुछ करना बाकी है। प्रधानमंत्री मोदी ने चीनी राष्ट्रपति को अगले वर्ष अनौपचारिक शिखर वार्ता में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया है। यह आमंत्रण इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि अगले वर्ष भारत में लोक सभा चुनाव होने हैं। नई सरकार किसकी होगी, इसे लेकर राजनीतिक विश्लेषकों में अलग-अलग राय हैं, लेकिन मोदी को भरोसा है कि सत्ता की बागडोर उन्हीं के हाथ में रहेगी। यदि ऐसा होता है तो प्रधानमंत्री मोदी अपने दूसरे कार्यकाल में एशिया की शताब्दी के सपने को साकार करने में सफल होंगे। यदि सत्ता में उनकी वापसी नहीं भी होती है, तो द्विपक्षीय संबंधों की जो दिशा उन्होंने तय की है, नई सरकार उसकी अवहेलना नहीं कर सकेगी।

जनसत्ता

Date: 22-12-18

निजता पर नजर

संपादकीय

इसमें कोई दो राय नहीं कि राष्ट्रीय सुरक्षा का सवाल सबसे अहम है और इसकी चिंता प्राथमिक होनी चाहिए। अगर कोई व्यक्ति इसके खिलाफ गतिविधियों में लिप्त पाया जाता है तो उस पर नजर रखना और उस पर कार्रवाई करना शासन के लिए जरूरी है। लेकिन सवाल है कि एक लोकतंत्र में किसी सरकार के इन अधिकारों को क्या असीमित होना चाहिए! गुरुवार रात केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा के सवाल पर अपने एक आदेश में केंद्रीय गृह मंत्रालय के तहत काम करने वाली दस एजेंसियों को देश में चलने वाले सभी कंप्यूटरों की जांच का अधिकार दिया है। यानी अगर इन एजेंसियों को महज शक के आधार पर किसी व्यक्ति या संस्था के कंप्यूटर में मौजूद सामग्रियों को देखने या जांचने का अधिकार होगा। हालांकि सरकार की ओर से फिलहाल देश की सुरक्षा की दलील पर विशेष स्थितियों में ही यह कार्रवाई करने की बात कही जा रही है और बताया गया है कि इसका आम लोगों पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

लेकिन हमारे देश में पुलिस या दूसरी जांच एजेंसियों के कामकाज का जो तौर-तरीका रहा है, उसमें यह समझना मुश्किल नहीं है कि इस अधिकार का जमीनी असर क्या हो सकता है। क्या इसका एक अर्थ यह नहीं है कि सरकार लोगों की निजी गतिविधियों को मनमानी निगरानी के दायरे में लाने जा रही है? प्रथम दृष्टया इस आदेश के जो आशय निकल रहे

हैं, उसमें यह कैसे सुनिश्चित होगा कि इसके जरिए देश के नागरिक अधिकारों और लोगों की निजी स्वतंत्रता को निशाना नहीं बनाया जाएगा? अगर फोन कॉल या कंप्यूटरों की जांच का आदेश जारी किया गया है तो वह किस तरह किसी व्यक्ति की जासूसी करने से अलग है? यह कैसे सुनिश्चित होगा कि जांच एजेंसियों को इस तरह के अधिकार देने के बाद इसका दुरुपयोग नहीं किया जाएगा? किसी व्यक्ति या संस्था की कोई गतिविधि संदिग्ध है या नहीं, इसे कौन परिभाषित करेगा? संभव है कि कुछ लोग ऐसे अवांछित कामों में लिप्त हों, जो सुरक्षा और सामाजिक सद्भाव के लिहाज से बेहद संवेदनशील हों। मगर किसी आपराधिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति और सामान्य नागरिकों के साथ सरकार के बर्ताव में कोई फर्क होगा या नहीं? क्या मौजूदा नियम या कानून देश विरोधी गतिविधियों में लिप्त लोगों के प्रति इस कदर लापरवाह हैं कि इसके लिए लोगों पर अप्रत्यक्ष निगरानी का आदेश जारी करना पड़ा? यही वजह है कि इस आदेश की खबर सामने आते ही लगभग सभी राजनीतिक दलों ने इसे चिंताजनक बताया और उनकी ओर से इस पर तीखा विरोध जताया गया है।

गौरतलब है कि सुप्रीम कोर्ट ने निजता को संविधान में दर्ज मौलिक अधिकार के रूप में मान कर इसके पक्ष में फैसला दिया था। इसके मद्देनजर इसकी क्या गारंटी है कि सरकार के ताजा आदेश से सुप्रीम कोर्ट के फैसले और नागरिकों के संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन नहीं होगा? जॉर्ज ऑरवेल ने 1948 में समय से आगे की कल्पना पर आधारित एक किताब लिखी थी, जिसका शीर्षक था '1984'। उसमें यह बताया गया था कि राजसत्ता कैसे अपने नागरिकों पर नजर रखती है और उन्हें बुनियादी आजादी देने के पक्ष में नहीं है! किसी लोकतंत्र को तभी परिपक्व माना जाता है जब उसमें असहमति और अभिव्यक्ति को अधिकार की शक्ति में जगह मिलती है। लेकिन कई बार देश की सुरक्षा को सवाल बना कर नागरिकों को निगरानी के दायरे में रखने और इस तरह उनकी निजता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन की कोशिशें दुनिया भर में की जाती रही हैं। जबकि निजी राय, असहमति और अभिव्यक्ति किसी भी लोकतांत्रिक देश और समाज की खूबसूरती होती हैं और इन पर अंकुश लगाने की कोशिश लोकतंत्र की जड़ों को कमजोर करती है।

Over To The Elders

Editorial

The Surrogacy (Regulation) Bill was passed by the Lok Sabha on Wednesday, two years after it was introduced in Parliament's lower House. The bill bars commercial surrogacy and allows only close relatives to act as surrogates to infertile couples for "altruistic" reasons. In doing so, the bill sticks to its original principles despite the criticisms by scholars, women's rights groups as well as the Union Ministry of Health and Family Welfare's Parliamentary Standing Committee. The discussion on the Bill in the Lok Sabha, just over an hour long, did scant justice to the issues that were raised in the two years after it was tabled.

Opponents of the ban on commercial surrogacy contend that outright prohibition would push the surrogacy market underground, defeating the regulation's main purpose of protecting surrogate mothers.

Its advocates raise bioethical concerns about treating a woman's body as a commodity. In August last year, a Parliamentary Standing Committee responded to these concerns. It agreed with the arguments of the Bill's proponents to an extent, but refused to go along with their "moralistic" reasoning. Keeping the surrogacy transaction within the family would, in a patriarchal set-up, reinforce the idea that a woman's body is not her own, the committee contended. "In Indian marital homes, the decision-making power rarely rests with women and not so privileged or financially weak relatives can be coerced into becoming surrogate mothers," it noted. Altruistic surrogacy, it observed, is tantamount to exploitation: "The commissioning couple gets a child, and doctors, lawyers and hospitals get paid. However, the surrogate mothers are expected to practise altruism without a single penny". It recommended that surrogate mothers be paid for their services and that the process be called "compensated surrogacy".

The committee also made a strong case for broad-basing the eligibility criteria by including widows and divorcees. It criticised the government for restricting surrogacy to married couples when the Supreme Court has given legal sanctity to live-in relationships. The need to broad-base the eligibility criteria should, in fact, have acquired momentum after the Supreme Court decriminalised homosexuality. Unfortunately, however, the Bill, passed by Lok Sabha on Wednesday, scarcely bears any imprint of this seminal verdict. It is true that homosexual marriages are still not recognised in India, but by prohibiting same-sex couples from commissioning surrogates, the bill continues to speak the discriminatory language of Section 377. In Lok Sabha, some members, including Kakoli Ghosh Dastidar of the Trinamool Congress and NCP's Supriya Sule, did ask the government to expand the Bill's scope. But a meaningful discussion on the issue proved elusive. The Rajya Sabha would do well to debate these matters threadbare when the Bill comes before it.
